

अंग्रेजी ढंग का नावेल' और भारतीय उपन्यास

नामवर सिंह

कैसी विडंबना है कि उन्नीसवीं शताब्दी में जब अंग्रेजी 'ओरिएंटलिस्ट' कादम्बरी, कथा-सरित्सागर, पंचतन्त्र जैसी भारतीय कथाओं के पीछे पागल थे, स्वयं भारतीय लेखक 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' लिखने के लिए व्याकुल थे। ये हैं उपनिवेशवाद के दो चेहरे!

निस्सन्देह कुछ लोग अपनी भाषा में 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' लिखने में कुछ-कुछ कामयाब भी हो गए। उदाहरण के लिए लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरु' (1882), जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी में अंग्रेजी ढंग का पहला उपन्यास' माना। लेकिन पूरा-पूरा 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' सबसे न बन पड़ा। खासतौर से उनसे जो सर्जनशील रचनाकार थे; जैसे हिन्दी से ही उदाहरण लें तो ठाकुर जगमोहन सिंह, जिनकी कथाकृति 'श्यामास्वप्न' किसी भी तरह 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' नहीं है। ऐसे सर्जनशील रचनाकारों के सिरमौर हैं बंकिमचन्द्र, जिन्हें प्रथम भारतीय उपन्यासकार होने का गौरव प्राप्त है।

छब्बीस वर्ष की कच्ची उम्र में बंकिमचन्द्र ने 'दुर्गेशनन्दिनी' (1865) नाम का अपना पहला बंगला उपन्यास प्रकाशित किया और एक साल के बाद 'कपालकुंडला' (1866) ; फिर तीन साल के अंतराल के बाद 'मृणालिनी' (1869)। इनमें से एक भी 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' नहीं है। जगमोहन सिंह के 'श्यामास्वप्न' के समान ही ये तीनों उपन्यास किसी 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' की अपेक्षा संस्कृत की 'कादम्बरी' की याद दिलाते हैं। यह भी एक विडंबना ही है। एक लेखक कथा की पुरानी परम्परा से मुक्त होकर एकदम आधुनिक ढंग की नई कथाकृति रचना चाहता है और परम्परा है कि उसके सर्जनात्मक अवचेतन का संचालन कर रही है। कंबल बाबाजी को कैसे छोड़े! इस तरह बंकिमचन्द्र की रचना प्रक्रिया से गुजरकर जो चीज निकली उसके लिए सही नाम एक ही है - रोमांस!

उपन्यास का अर्थ जिनके लिए 'अंग्रेजी ढंग का नावेल' है - फिर उसकी परिभाषा जो भी हो, वे इसे बंकिमचन्द्र की विफलता मानेंगे लेकिन मेरी दृष्टि से लेखक की इस विफलता में ही भारतीय उपन्यास की सार्थकता निहित है। भारतीय उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं शताब्दी के ये 'रोमांस' ही हैं, न कि तथाकथित अंग्रेजी ढंग के उपन्यास! उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपालकुंडला' करती है, 'परीक्षागुरु' नहीं। 'परीखागुरु' का महत्व अधिक से अधिक ऐतिहासिक है और वह भी सिर्फ हिन्दी के लिए! जब कि 'कपालकुंडला' अपने जमाने की अत्याधिक लोकप्रिय कृति होने के साथ ही स्थायी कीर्ति की हकदार है। तथाकथित 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' का तिरस्कार करके ही बंकिमचन्द्र के रोमांसधर्मी उपन्यासों ने भारतीय राष्ट्र के भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान बनाने में पहल की।

अंग्रेजी ढंग के 'नावेल' का तिरस्कार वस्तुतः उपनिवेशवाद का तिरस्कार है। भारत से पहले अंग्रेजी ढंग के 'नावेल' को उत्तरी अमेरिका अस्वीकार ढंग के 'नावेल' का अनुकरण नहीं किया। 'स्कार्लेट लेटर' और 'मोबी डिक' ऐसे 'रोमांस' हैं जिन्हें 'राष्ट्रीय रूपक' के रूप में आज भी ग्रहण किया जाता है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद से अपने आपको मुक्त कर अमेरिकी प्रतिभा ने आख्यान ने रूपबन्ध में भी स्वतन्त्रता प्राप्त की। इस प्रकार उत्तरी अमेरिका में राष्ट्र और उपन्यास का जन्म साथ-साथ हुआ। तब तक के अंग्रेजी 'नावेल' के रूपबन्ध में एक स्वतन्त्र राष्ट्र की उद्दाम आकांक्षाओं का अँटना संभव न था। नए राष्ट्र के एक नितांत नए उन्मुक्त रूपबन्ध का सृजन किया।

भारत के भाग्य ऐसे न थे। 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का अंत राष्ट्रीय पराजय में हुआ।

किन्तु राष्ट्र की आत्मा ने पराजय स्वीकार न की। कल्पना में स्वतन्त्रता संग्राम गोया अब भी जारी था। कहनेवाले लाख कहें कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य नहीं डूबता और इस न्याय से अंग्रेजी ढंग के 'नावेल' को ही आख्यान की सार्वभौम विधा का आदर्श मानते रहें, लेकिन भारत के स्वतन्त्रचेता लेखक ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसके लिए तो "सितारों से आगे जहाँ और भी हैं... तेरे सामने आसमाँ और भी हैं।"

इस जहान और आसमान का ही दूसरा नाम है भारत। स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में भारत। आँखों के सामने रोज-रोज दिखाई पड़नेवाला भारत नहीं। असली भारत। मनोवांछित भारत। कल्पना का भारत। इस भारत की निर्माण ही मुख्य मुद्दा था। निश्चय ही यह एक प्रकार की कल्पसृष्टि है। कल्पसृष्टि कल्प-सृजन से ही संभव है। उपन्यास यही कल्प-सृजन है। गल्प से गल्प की सृष्टि। एक गल्प उपन्यास, दूसरा गल्प राष्ट्र। यह दूसरा 'गल्प' गले से जल्दी नहीं उतरता। पर विचार करें तो राष्ट्र भी एक गल्प ही है। कुल मिलाकर राष्ट्र एक प्रतिमा ही तो है। इसके निर्माण में अतीत की कितनी पुरागाथाएँ, मिथक, किंवदन्तियाँ, लोककथाएँ, स्मृतियाँ, इतिहास-पुराण आदि का योग होता है? कहना कठिन है कि इसमें कितना वास्तविक है और कितना काल्पनिक। बेनेडिक्ट एंडरसन ने शायद इसीलिए राष्ट्र को 'कल्पित जनसमुदाय' (इमैजिंड कम्युनिटी) कहा है।

आधुनिक युग में इस राष्ट्र नाम के गल्प के निर्माण का सबसे सशक्त माध्यम उपन्यास है : छापकर पढ़ने के लिए तैयार की गई गद्यकथा। छापेखाने के साथ ही उपन्यास अस्तित्व में आया। लगभग समाचारपत्रों के साथ। और यह आकस्मिक नहीं कि अनेक उपन्यास पहलेपहल पत्रिकाओं में ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए। इन धारावाहिक उपन्यासों के द्वारा धीरे-धीरे पढ़नेवालों का एक सुनिश्चित समुदाय बना। इसे कुछ विद्वान 'प्रिंट कम्युनिटी' कहना पसंद करते हैं। यह समुदाय वाचिक परम्परा द्वारा निर्मित समुदायों से भिन्न है - अपनी चेतना में भी और अपने ढाँचे में भी। इस प्रकार आधुनिक राष्ट्र को उपन्यासों की 'निर्मिति' कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी।

इतिहास भी उपन्यास के समान ही एक प्रकार की कल्पसृष्टि है। आख्यान दोनों का आधार है और आख्यान-रचना मूलतः कल्पना का ही व्यापार है। आकस्मिक नहीं कि

इतिहास-लेखन और उपन्यास-रचना का आरम्भ लगभग साथ-साथ हुआ - यहाँ तक कि अधिकांश आरम्भिक उपन्यास 'ऐतिहासिक उपन्यास' हैं। बंकिमचन्द्र को इतिहास और उपन्यास की इस सजातीयता का पूरा एहसास था। अपने प्रतिद्वंद्व ऐतिहासिक उपन्यास 'राजसिंह' (1882) के चौथे संस्करण के 'विज्ञापन' में उन्होंने लिखा है : "इतिहास का उद्देश्य कभी-कभी उपन्यास द्वारा सिद्ध हो जा सकता है। उपन्यास-लेखक सर्वत्र सत्य (तथ्य) की श्रृंखला में नहीं बँधे होते। इच्छानुसार वे अपनी अभीष्ट-सिद्धी के लिए कल्पना का आश्रय ले लेते हैं। पर सर्वत्र उपन्यास इतिहास के आसन को ग्रहण नहीं कर सकता।"

फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में राष्ट्र-निर्माण की दिशा में उपन्यास ने जो भूमिका निभाई, उससे इतिहास की तुलना सम्भव नहीं है। इसका मुख्य कारण उपन्यास के रूपबन्ध की सर्जनात्मकता है। जैसा कि रूसी चिंतक बाख्तीन ने दिखलाया है, उपन्यास अपनी प्रकृति से ही 'सम्वादधर्मी' है, 'बहुभाषी' है। उपन्यास के ढाँचे में समाज के विभिन्न स्तरों के चरित्र आपस में मिलते हैं और अपनी-अपनी बोली-बानी में एक दूसरे से बात करते हैं - इस प्रक्रिया में उपन्यास का संसार सहज ही एक ऐसे राष्ट्र के रूप में सामने आता है जिसमें सभी सदस्यों की भागीदारी एक समान नागरिक की सी प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त, किसी राष्ट्र की अपनी पहचान उसकी भाषा है; और कहना न होगा कि सबसे लोकप्रिय रूपबन्ध के रूप में उपन्यास ने ही भारत की आधुनिक भाषाओं को मानक रूप दिया। यह मानकीकरण छपे हुए गद्य के बिना संभव ही न था। संतों-भक्तों ने आधुनिक भारत की लोकभाषाओं को साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठित किया तो उपन्यास ने उन्हें राष्ट्रीय रूप प्रदान किया। इस दृष्टि से हिन्दी भाषी क्षेत्र में उपन्यास की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी का उदय एक ऐतिहासिक घटना है।

उपन्यास ने यदि राष्ट्र का रूप निर्मित किया तो राष्ट्रीय कल्पना ने उपन्यास के रूप-निर्माण में भी नियामक भूमिका अदा की। इस प्रकार राष्ट्र-निर्माण और उपन्यास के बीच द्वन्द्ववात्मक सम्बन्ध है। इस द्वन्द्व के ही कारण उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश भारतीय उपन्यास 'राजनीतिक' हैं। कथानक चाहे ऐतिहासिक हो चाहे सामाजिक अथवा नितान्त निजी प्रेम की कहानी, अंततः उनसे कोई न कोई राजनीतिक अर्थ ध्वनित होता है। संभवतः इसी बात को लक्षित करते हुए अमेरिका के प्रसिद्ध मार्क्सवादी समालोचक फ्रेडरिक जेम्सन ने भारत-सहित तीसरी दुनिया के सभी देशों के उपन्यासों को 'नेशनल एलिगरी' (राष्ट्रीय रूपक) कहा है।

बंकिमचन्द्र के उपन्यासों के माध्यम से 'राष्ट्रीय रूपक' की परिकल्पना को आसानी से समझा जा सकता है। 'राजसिंह' (1882) के संदर्भ में तो बंकिमचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि "हिंदुओं का बाहबल ही मेरा प्रतिपाद्य है"। कारण यह है कि "अंग्रेज साम्राज्य में हिंदुओं का बाहबल लुप्त हो गया है।" इसी प्रकार 'मृणालिनी' (1869) में भी उनका स्वदेश प्रेम स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है। सिर्फ सत्रह घुड़सवारों को लेकर बख्तियार खिलजी ने बंगाल को जीता था, इस कहानी पर बंकिमचन्द्र को बिल्कुल विश्वास न था। वे बंगाली जाति के शौर्य-वीर्य के प्रति इतने आस्थावान थे कि 'मृणालिनी' के द्वारा वे इस

जातीय कलंक को दूर करने में प्रवृत्त हो गए। कहने की आवश्यकता नहीं कि बख्तियार खिलजी की बंगाल-विजय भी एक रूपक ही है। इससे अनायास ही अंग्रेजों की बंगाल-विजय व्यंजित है।

बंकिमचन्द्र इस राष्ट्रीय कलंक से इतने उद्वेलित थे कि अपने पहले उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' में भी इसका जिक्र करना न भूले। तीसरे ही अध्याय में वे लिखते हैं : "यह परिच्छेद इतिहास-सम्बन्धी है। पाठकवर्ग बहुत अधीर हों तो इसे छोड़ सकते हैं, किन्तु ग्रंथकार की यह सलाह है कि अर्धैर्य अच्छा नहीं। पहलेपहल बंगदेश में बख्तियार खिलजी के मुहम्मदीय जयध्वजा फहराने पर मुसलमान बेरोकटोक कई शताब्दी तक उसके राज्य का शासन करते रहे।"

वैसे, 'दुर्गेशनन्दिनी' मुख्यतः 'रोमांस' है जिसके केंद्र में हिंदू राजकुमार जगत सिंह और मुस्लिम और मुस्लिम शाहजादी आयशा की प्रेम कहानी है। यह प्रेम कहानी दुःखान्त है। प्रेम की परिणति विवाह में नहीं होती। फिर भी आयशा का आत्मबलिदान मन पर अमिट छाप छोड़ जाता है। आयशा के आदर्श प्रेम के सामने राजकुमार का सारा शौर्य-पराक्रम फीका पड़ जाता है। रोमांस में जो एक जीवट या साहस होता है, वह इस प्रेमकथा का अतिरिक्त आकर्षण है। इसमें अद्भुत का भी पुट है और रहस्य की भी सृष्टि है। इन सबको आकर्षक रंग देता है बंगाल के प्राकृतिक परिवेश का आँखों-देखा वास्तव-सा चित्रण। क्या यह सब एक रूपक नहीं है?

राष्ट्रीय रूपक का इससे अच्छा उदाहरण है 'कपालकुंडला', शुद्ध रोमांस। दुःखान्त यह भी है। दुर्गेशनन्दिनी की तरह यहाँ भी नायक की एक पूर्वपत्नी है - अधिक ईर्ष्यान्तु और पतित भी। पृष्ठभूमि है गंगा सागर का वन्य, असाधारण और रोमांचक परिवेश। अन्तिम दृश्य हहराते समुद्र में कपालकुंडला की छलाँग और उसे बचाने के प्रयास में नायक की भी जल-समाधि। लगता है, गोया कपालकुंडला स्वयं ही वह हहराता सागर है। एक हहराते समुद्र-सी युवती। पुरुष की काम्या! उस ज्वार में निमज्जित होता पुरुष! क्या यह सब कुछ रूपक नहीं प्रतीत होता है?

यदि रोमांचक 'मोबी डिक' अमेरिका का राष्ट्रीय रूपक हो सकता है तो 'कपालकुंडला' बंगभूमि की रूपक क्यों नहीं? कुछ समीक्षक तो ऐसे प्रेमकेन्द्रित 'रोमांस' को 'राजनीति का कामशास्त्र' (इरोटिक्स ऑफ पॉलिटिक्स) कहना चाहते हैं। जो हो, इसमें कोई शक नहीं कि बंकिम के प्रेम-केंद्रित रोमांस कोरे प्रेम के कुछ अधिक अर्थ व्यंजित करते हैं। प्रेमियों का आत्मबलिदान कहीं राष्ट्रीय आदर्श के लिए आत्मबलिदान का संदेश देता है तो कहीं प्रेमियों का मिलन-प्रसंग अधिक व्यापक एकता की ओर संकेत करता है।

तात्पर्य यह कि उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय 'रोमांस' लोकरंजन तक ही सीमित न थे, बल्कि उनमें एक राष्ट्रीय भावना भी अन्तर्निहित थी, जिससे समसामायिक पाठक कहीं-न-कहीं परिचित थे। इस प्रकार वे ऊपर-ऊपर से यथार्थ से दूर दिखते हुए भी अपने निहितार्थ में कहीं अधिक वास्तविक थे : सत्य के निकट, सत्य के निदर्शक। काल्पनिक होते हुए भी ये रोमांस यथार्थ में हस्तक्षेप करने में समर्थ थे; बहुत कुछ अनैतिहासिक होते

हूए भी इतिहास के निर्माण में प्रयत्नशील थे; और विषयवस्तु में स्पष्टतः राष्ट्रीय न होते हुए अंतर्वस्तु में राष्ट्रीय रूपक का आभास देते थे।

इनके विपरीत तथाकथित 'अंग्रेजी ढंग के नावेल' चाहे जितने यथार्थवादी दिखाई पड़ें अंततः अनुकरणधर्मा थे : रूपबन्ध में एक पराई विधा के अनुकरणकर्ता और अंतर्वस्तु में प्रदत्त यथार्थ के पीछे चलनेवाले ; क्योंकि उनके पास यथार्थ में हस्तक्षेप करनेवाली 'कल्पना' ही नहीं थी। अधिक से अधिक वे पुरानी नीतिकथाओं के समान अंत में नीरस उपदेश देकर ही संतुष्ट हो सकते थे; जैसे कि 'परीक्षागुरु'। औसत अंग्रेजी उपन्यासों की तरह उस जमाने के ज्यादातर भारतीय सामाजिक उपन्यास बहुत कुछ 'घरेलू उपन्यास' बनकर रह गए।

विरोधाभास प्रतीत होते हुए भी यह तथ्य है कि भारतीय उपन्यास में सच्चे यथार्थवाद का विकास इन 'घरेलू उपन्यासों' के द्वारा नहीं, बल्कि बंकिमचन्द्र जैसे 'रोमांसकारों' के उपन्यासों से ही हुआ। वैसे, बंकिम के रोमांसधर्मी उपन्यासों में भी यथार्थ के चित्र कम नहीं हैं। उदाहरण के लिए 'आनन्दमठ' में ही बंगाल के गाँवों की दुर्दशा के चित्र। निश्चय ही शताब्दी का अंत होते-होते क्रमशः इस यथार्थवाद में व्यापकता भी आई और गहराई भी। फकीर मोहन सेनापति का उड़िया उपन्यास 'छ माण आठ गुंठ' विकास की एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की अंतिम परिणति है और सर्वोत्तम उपलब्धि भी। यह उपन्यास एक प्रकार से प्रेमचंद के उपन्यासों का पूर्वाभास है। उपनिवेशवादी दौर का वही दलित किसान, जमींदार द्वारा किसान के खेत का हड़प लिया जाना, गाय का छिन जाना, मुकदमेबाजी, कोर्ट-कचहरी, वकील-मजिस्ट्रेट, अंग्रेजी न्याय का नाटक, जेल, क्षुब्ध किसान का हिंसात्मक प्रतिशोध आदि। फिर भी यह किसी अंग्रेजी ढंग का नावेल नहीं है। बंकिमचन्द्र की तरह ही बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक, श्लोकों की मनोरंजक व्याख्याएँ, ठेठ भारतीय व्यंग, फिर भी आद्यन्त व्याप्त करुणा! उन्नीसवीं शताब्दी के समूचे भारतीय उपन्यास-साहित्य में 'छ माण आठ गुंठ' अनूठी कृति है, अनुपम और अद्वितीय। उपन्यास के अंत में 'छ माण आठ गुंठ', 'छ माण आठ गुंठ' का विक्षिप्त प्रलाप करते हुए मंगराज का प्राण त्याग अमिट छाप छोड़ जाता है। यथार्थ और फैंटेसी एक साथ। यह उपन्यास भी अंततः एक 'राष्ट्रीय रूपक' है। किसी एक व्यक्ति की व्यथा-कथा यह नहीं है, बल्कि जैसे पूरे समूह की, देश की आत्मा की चीत्कार है! 'छ माण आठ गुंठ' पूरा भारत है।

स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से पहले ही भारतीय उपन्यास अपनी अस्मिता प्राप्त कर चुका था। उसने इस अस्मिता का निर्माण किया था। इस अस्मिता का निर्माण अंग्रेजी उपनिवेशवाद के विरोध की प्रक्रिया में हुआ था, अंग्रेजी ढंग के 'नावेल' की नकल से नहीं। अंग्रेजी 'नावेल' ने तो भारतीय उपन्यास के विकास-क्रम में उल्टे बाधा ही डाली।

इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने बहुत पहले अपने 'कादम्बरी' (1902) शीर्षक लेख में चेतावनी दी थी कि केवल अंग्रेजी उपन्यासों - वह भी 'सोसायटी नावेल्स' का परिचय भारतीय उपन्यासकारों के लिए हानिकर सिद्ध हुआ है। इसके बदले भारतीय उपन्यासकारों का साक्षात्कार यदि उन्नीसवीं शताब्दी में ही रूस के तोल्सतोय और फ्रांस के

बालजाक जैसे उपन्यासकारों की महान कृतियों से हो गया होता तो भारतीय उपन्यास का नक्शा कुछ और ही होता।

कभी-कभी यह खयाल भी आता है कि यदि सभी भारतीय भाषाओं ने मराठी की तरह 'नावेल' के लिए 'कादम्बरी' संज्ञा स्वीकार कर ली होती तो शायद अपनी जातीय स्मृति अधिक सुरक्षित रहती और अपनी परम्परा का प्रत्याभिज्ञान हमारी कथात्मक सर्जनात्मकता में कुछ और रंग लाता।

इस धारणा की पुष्टि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) से होती है। एक तरह से देखें तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भारतीय उपन्यास की आत्मकथा है। रूपबन्ध में प्राचीन और नवीन का अद्भुत संयोग। 'कादंबरी' कथा की तरह आरम्भ में मिस कैथराइन का कथान्तर, लेकिन कथानक का विकास व्योमकेश शास्त्री के शब्दों में 'आजकल की डायरी शैली' में। 'कथालेखक जिस समय कथा लिखना शुरू करता है उस समय उसे समूची घटनाज्ञात नहीं है।' तात्पर्य यह कि 'नैरेटर' भूत-वर्तमान-भविष्य सब कुछ का जानकार सर्वज्ञ नहीं है। 'कादम्बरी' की तरह ही अपनी कथा की अपूर्णता का उल्लेख करके लेखक ने क्या यह संकेत देना चाहा है कि उसकी दृष्टि में उपन्यास ऐसा रूपबन्ध है जो कहीं खत्म नहीं होता और एक जगह समाप्त होने के बाद भी कल्पना के लिए खुला रहता है?

कुल मिलाकर प्राचीनता का आभास देती हुई भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कितनी नई है - नई और ताजा! किसी कालजयी कृति के लक्षण इसके अलावा और क्या होते हैं?

इसी प्रकार यदि अन्तर्वस्तु पर दृष्टिपात करें तो पूरी कथा 'एलिगरी' (रूपक) है। 'ओरिएंटलिस्ट' कैथराइन अपने 'बाण' को खोजती हुई भारत आती हैं; शोणनद के किनारों की बीहड़ यात्रा करती हैं। हाथ लगती है एक पुरानी पोथी और वे तन्मय होकर नैश जागरण करती हुई उसका हिन्दी अनुवाद करती हैं। कैसी विडंबना है कि जिस समय भारतीय उपन्यासकार अंग्रेजी 'नावेल' की नकल में विकल थे, एक यूरोपीय महिला भारत की एक अतिप्राचीन पोथी में अपने लिए जाने क्या पा जाती है कि उल्था करने में प्राणपण से जुट जाती है। यह किसकी 'आत्मकथा'? बाण की? भट्टिनी की? निउनिया की? कैथराइन की या फिर स्वयं 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के आपाततः संपादक और प्रकाशक व्योमकेश शास्त्री की? यह व्योमकेश शास्त्री वही हैं जिन्हें आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी अपना अभिन्न कहते हैं। कैथराइन की डॉट और व्योमकेश पंडित का अनुचिंतन सुनें तो यह किसी व्यक्ति की कथा नहीं, बल्कि 'आत्मा' की कथा है और आत्मा सार्वभौम है, किसी देश या व्यक्ति तक सीमित नहीं। तात्पर्य यह कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'ऑटोबायोग्राफी' के अर्थ में किसी व्यक्ति का आत्मचरित नहीं, बल्कि समूह की अंतर्कथा है। 'एलिगरी' या रूपक और किसे कहते हैं? यहाँ व्यक्ति और समूह में कोई अंतर नहीं; व्यक्ति की कथा ही समूह की कथा बन जाती है। फ्रेडरिक जेम्सन के अनुसार यह 'नेशनल एलिगरी' (राष्ट्रीय रूपक) है और पश्चिमी दुनिया की विकसित पूँजीवादी सभ्यता से भिन्न विकासशाली देशों में कथा-सृजन का स्वधर्म!

इस अर्थ में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आधुनिक भारत का 'राष्ट्रीय रूपक' नहीं तो और क्या है? एक राष्ट्र द्वारा अपनी अस्मिता की खोज और उसका पुनः प्रत्यभिज्ञान! फिर इतनी आत्मसजगता कि फिर से अपने आपको पहचान लेने के बाद भी मन पूरी तरह आश्वस्त नहीं है। संतुष्ट भी नहीं। इस स्वचेतनता का प्रमाण है उपन्यास का यह अंतिम वाक्य : अन्तरात्मा के अतल गहवर से कोई चिल्ला उठा, "फिर क्या मिलना होगा?"

क्या यही प्रश्न आज के भारतीय उपन्यास के भविष्य को लेकर नहीं किया जा सकता?